जलता घर

वैश्वीकरण और भारत में इसके पारिस्थितिकीय नतीजे

असीम श्रीवास्तव
आशीष कोठारी

वैश्वीकरण का सूत्रपात करनेवाली नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के कुछ ही समय बाद 1992 में तत्कालीन केन्द्रीय वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने दिल्ली में पर्यावरणीय आयामों पर एक भाषण दिया था। उनका मुख्य तर्क यह था कि पर्यावरण की सुरक्षा के लिए संसाधनों की जरूरत पड़ती है और नई नीतियों से ये संसाधन आसानी से पैदा हो पाएँगे। मगर जैसे कि हम आगे देखेंगे, बाद का घटनाक्रम वैसा नहीं रहा है जैसी मनमोहन सिंह ने उम्मीद बँधाई थी। भारत में आर्थिक वैश्वीकरण के बहुत गम्भीर पारिस्थितिकीय प्रभाव पड़े हैं। ऐसे करोड़ों लोगों की जिन्दगी पहले से भी बदतर हो गई है जो अपनी आजीविका और अस्तित्व के लिए सीधे प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। इस मुद्दे को वैश्विक स्तर पर देखना जरूरी है–सिर्फ इसलिए नहीं कि इससे इतनी विशाल आबादी प्रभावित हो रही है या भारत की जैवविविधता या प्राकृतिक संसाधनों का बहुत भारी वैश्विक महत्त्व है बल्कि इसलिए भी क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है।

1991 में शुरू की गई आर्थिक वैश्वीकरण की नीतियों में यह भी शामिल था कि आत्मनिर्भरता के एक आत्मकेन्द्रित मॉडल की बजाय निर्यात और आयात पर पहले से ज्यादा ध्यान दिया जाएगा, विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों को विदेशी निवेश के लिए खोला जाएगा, नियमन व्यवस्था का उदारीकरण किया जाएगा और निजी क्षेत्र में निवेश की जगह निर्जीकरण को बढ़ावा दिया जाएगा। इनके नतीजे नीचे देखे जा सकते हैं जिन पर बाद में और विस्तार से चर्चा की जाएगी :

1. अर्थव्यवस्था के तेज विकास के लिए बुनियादी ढाँचे का भारी-भरकम विस्तार और संसाधनों का खनन जरूरी था। यह भी जरूरी था कि अमीरों के विलासिता भरे उपभोग को बढ़ावा दिया जाए। अर्थव्यवस्था माँग केन्द्रित होती गई है और इस बात की कोई परवाह नहीं की जा रही है कि कितनी (और किस मकसद के लिए) माँग को जायज और वांछनीय माना जाए। फलस्वरूप ऐसी परियोजनाओं और प्रक्रियाओं में भारी इजाफा हुआ है जिनकी पारिस्थितिकीय और सामाजिक लागतें बहुत नुकसानदेह हैं।

2. व्यापार (आयात और निर्यात) के उदारीकरण के दो नतीजे सामने आए हैं : विदेशी मुद्रा कमाने के चक्कर में प्राकृतिक संसाधनों का तेजी से दोहन हुआ है और भारत में उपभोक्ता वस्तुओं और कचरे की जबरदस्त आमद हुई है। इससे कचरे के निपटारे और स्वास्थ्य के मामले में गम्भीर समस्याएँ पैदा हुई हैं। वानिकी, मछुवाही, चरवाही, खेती, स्वास्थ्य और हस्तकौशलों पर आधारित परम्परागत आजीविकाएँ तहस-नहस हुई हैं।

असीम श्रीवास्तव पर्यावरण और अर्थशास्त्र के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। आशीष कोठारी पर्यावरण के सवाल पर लिखते रहे हैं।

3. पर्यावरणीय मानकों और नियमों में या तो भारी ढील दे दी गई है या उनको नजरअन्दाज कर दिया गया है ताकि घरेलू और विदेशी, दोनों तरह की कम्पनियों के लिए निवेश का और 'दोस्ताना' माहौल बनाया जा सके। सरकार ज्यादा से ज्यादा प्राकृतिक पर्यावासों और बेहद उपजाऊ ज़मीनों को व्यावसायिक उद्यमों के लिए मुहैया कराती जा रही है। इसी के नाम पर समता के उद्देश्यों को भी तिलांजलि दे दी गई है। मिसाल के तौर पर औद्योगिक विस्तार को बढ़ावा देने के लिए भूमि हदबंदी के कानूनों को शिथिल बना दिया गया है।

4. विदेशी निवेश के लिए अर्थव्यवस्था को खोलने से ऐसी ऐसी कम्पनियाँ भी भारत में आने लगी हैं जिनका (इतिहास बताता है कि उनके द्वारा अपनाए गए रास्ते या तरीके पर्यावरण और समाज के लिए कितने खतरनाक साबित हुए हैं) पर्यावरण और/ या सामाजिक मुद्दों पर बहुत खतरनाक ट्रैक रिकॉर्ड रहा है। उनकी जरूरतों को ध्यान में रखते हुए पर्यावरण तथा सामाजिक समता के प्रावधानों को और ज्यादा कमजोर करने की माँग की जा रही है। विदेशी कम्पनियों के साथ साझेदारी में या खुद अपने बूते पर काम कर रही घरेलू कंपनियों की ताकत और आकार में भी जबर्दस्त इजाफा हुआ है और अब वे भी यही माँग करने लगी हैं।

5. विभिन्न क्षेत्रों के निजीकरण से कुछ हद तक कुशलता तो आई है मगर इससे पर्यावरणीय मानकों के हनन या शिथिलता को भी बढ़ावा मिला है और गरीबों के लिए आवश्यक सामाजिक सेवाओं और वस्तुओं की जमकर उपेक्षा होने लगी है।

अगर मनमोहन सिंह का दावा वाकई कारगर साबित होता तो अब तक हमारे पास देश के पर्यावरण की रक्षा के लिए न जाने कितने उपाय और कार्यक्रम होते। अफसोस! पारिस्थितिकीय संकट और तीखा हुआ है। इस लेख में हम यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि यह वैश्वीकरण की प्रक्रिया का एक अपरिहार्य और अन्तर्निहित नतीजा है। जिस तरह 'बूँद-बूँद लाभ' (ट्रिकल डाउन) का सिद्धान्त गरीबों को फायदा नहीं पहुँचा पाता उसी तरह 'निवेश के लिए संसाधनों के बन्दोबस्त' का दावा पर्यावरण के लिए बेमानी साबित होता है।

दो कैफियतें

यहाँ दो स्पष्टीकरण जरूरी हैं। पहली बात यह है कि अगले पन्नों में हमने जिन क्षेत्रों और गतिविधियों पर बात की है उनकी आलोचना का मतलब यह न निकाला जाए कि हम इन क्षेत्रों या इन गतिविधियों के खिलाफ हैं। हम यह नहीं कह रहे हैं कि खनन न किया जाए, फूलों की खेती न हो, मछुवाही न हो, आयात-निर्यात बन्द कर दिया जाए। हम सिर्फ इतना कह रहे हैं कि न केवल हमें यह पूछना चाहिए कि हमें इन गतिविधियों की जरूरत है या नहीं बल्कि हमें यह भी पूछना होगा कि हमें इनकी किस हद तक जरूरत है, किसलिए जरूरत है और किन शर्तों पर जरूरत है। वैश्वीकरण के तहत अपनाए गए 'विकास' के मौजूदा मॉडल ने इन सवालों को सीधे-सीधे दरी के नीचे धकेल दिया है।

दूसरी बात, आगे जिन रुझानों का जिक्र किया गया है उनमें से बहुत सारे रुझान सिर्फ मौजूदा वैश्वीकरण का नतीजा नहीं हैं। उनमें से बहुत सारे घटनाक्रमों की जड़ें पिछले पाँच-छह दशकों के दौरान अपनाए गए विकास के हमारे मॉडल में तथा/ या अभिशासन, सामाजिक-आर्थिक असमानता, आदि समस्याओं में निहित हैं। मगर वैश्वीकरण के मौजूदा दौर ने इन रुझानों को और सघन बना दिया है। इसने ऐसे नए तत्त्वों को जन्म दिया है जो भारत की आबोहवा और लोगों के लिए इस मॉडल के खतरों को और ज्यादा बढ़ाते जा रहे हैं।

बुनियादी ढाँचा और सामग्री : माँग ही देवता है

दो अंकों वाली आर्थिक वृद्धि दर की एकांगी चाह में दिन-प्रतिदिन बढ़ती माँग ही एक ऐसी परम सत्ता का स्थान ले लेती है जिस पर सवाल नहीं उठाया जा सकता। आज बुनियादी ढाँचे या कच्चे माल या व्यावसायिक ऊर्जा की जरूरत इस बात से तय नहीं हो रही है कि मानव कल्याण और सामाजिक समता के लिए क्या जरूरी है। यह माँग आर्थिक वृद्धि दर के लक्ष्यों से तय हो रही है, भले ही कई मौकों पर इस वृद्धि दर का इंसानी खुशहाली से कोई सम्बन्ध न हो।

लिहाजा, पिछले कुछ दशकों के दौरान नए बुनियादी ढाँचे (हाईवे, पोत और बन्दरगाह, शहरी बुनियादी ढाँचा, बिजलीघर वगैरह) के निर्माण में जबर्दस्त इजाफा हुआ है। इसका मतलब यह है कि दिन-प्रतिदिन भूमि प्रयोग में बदलाव आ रहे हैं और इन परियोजनाओं के लिए अक्सर जंगलों और समुद्री तटों की या खेती और चरागाहों की जमीनों को ही बलि चढ़ा दिया जाता है।

खनिज पदार्थों की कहानी सकते में डाल देने वाली है।

1993-94 से 2008-09 के बीच भारत के खनिज उत्पादन में 75 प्रतिशत इजाफा हो चुका था। आज भारत बेराइट्स, क्रोमाइट, टेल्क/स्टीएटाइट/पाइरोफिलाइट, कोयला/लिग्नाइट, बॉक्साइट, लौह अयस्क, कायनाइट/सिलिमेनाइट, मैंगनीज अयस्क और कच्चे स्टील के मामले में दुनिया के सबसे बड़े उत्पादकों में से एक है। यह निश्चय ही गर्व की बात होनी चाहिए थी, बशर्ते हम इस बात को नजरअन्दाज कर पाते कि जिन खनिज पदार्थों की हम बात कर रहे हैं, वे जंगलों या गरीब ग्रामीण इलाकों से निकाले जा रहे हैं। ये ऐसे इलाके हैं जहाँ जैव विविधता बहुत समृद्ध है और वहाँ रहनेवाले समुदाय अपने इलाके के संसाधनों पर ही आश्रित हैं। अगर दशक-दर-दशक खानों में तब्दील किए गए जंगलों के क्षेत्रफल को देखें तो साफ पता चलता है कि वैश्वीकरण ने खनिज पदार्थों की माँग बेतहाशा बढ़ा दी है। सरकार भी इस माँग को पूरा करने के लिए हर हद तक जाने को तैयार है। 1981 से (जब यह अनिवार्य कर दिया गया था कि वन भूमि के गैर-वन प्रयोग के लिए केन्द्र सरकार से मंजूरी लेना अनिवार्य होगा) अब तक लगभग 14.9 लाख हेक्टेयर वन भूमि को खनन उद्योग के हवाले किया जा चुका है। इसमें से 1981-92 के बीच केवल 13,000 हेक्टेयर (यानी 8.7 प्रतिशत), 1992-2002 के बीच लगभग 57,000 हेक्टेयर (38.2 प्रतिशत) और 2002-2011 के दौरान लगभग 79,000 हेक्टेयर (यानी 53 प्रतिशत) जमीन खनन उद्योग के हवाले कर दी गई थी।

इस घटनाक्रम के पारिस्थितिकीय एवं सामाजिक प्रभाव रोंगटे खड़े कर देते हैं। अरावली और शिवालिक पर्वत मालाओं की विस्फोटों से उड़ा दी गई चूना पत्थर और संगमरमर की पहाड़ियाँ, गोवा, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में लौह अयस्क या बॉक्साइट की खुदाई, पूर्वी भारत में दहकती कोयले की खदानें और झारखंड की रेडियोधर्मी यूरेनियम पट्टी, ये सारे इलाके इस बात के गवाह हैं कि आर्थिक 'विकास' का मौजूदा रास्ता किस तरह की तबाही फैला सकता है। इन इलाकों की दसियों हजार हेक्टेयर जमीन पूरी तरह बंजर और अनुपजाऊ हो चुकी हैं। यहाँ महज थोड़ी-बहुत जमीन ही ऐसी बची है जिस पर दोबारा खेती की जा सकती है। (मुट्ठी-भर शानदार पेड़ लगाकर इस जमीन को बहाल करने का दावा तो किया जा रहा है मगर इसके बावजूद ये इलाके कहीं भी अपनी मूल स्थिति के आसपास तक नहीं पहुँच पाए हैं।)

1991 से दुनिया की कुछ सबसे बड़ी खनन कंपनियाँ भारत में निवेश कर रही हैं। इनमें रियो टिंटो जिन्क (यूके), बीएचपी (ऑस्ट्रेलिया), एलकेन (कनाडा), नॉर्स्क हाइड्रो (नॉर्वे), मेरीडियन (कनाडा), डी बियर्स (दक्षिण अफ्रीका), रेथियॉन (अमेरिका) और फेल्प्स डॉज (अमेरिका) प्रमुख हैं। इनमें से बहुत सारी कम्पनियों का पर्यावरणीय एवं सामाजिक रिकॉर्ड भारत की खनन कम्पनियों की तरह बहुत ही भयावह रहा है।

नीतिगत बदलावों की दिशा खनन कंपनियों का रास्ता आसान बनाने पर केन्द्रित रही है। इस सिलसिले की शुरुआत 1993 में मंजूर की गई राष्ट्रीय खनिज नीति से हो गई थी। 1996 में सरकार ने नए दिशा निर्देश जारी किए और निजी कम्पनियों को खनिज पदार्थों के अन्वेषण के लिए 25 वर्ग किलोमीटर की बजाय 5000 वर्ग किलोमीटर तक के इलाकों का लाइसेंस देने के प्रावधान किए गए। 2001 में खनन उद्योग में 100 प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफडीआई) को मंजूरी दे दी गई। 2000 से 2009 के बीच खनिज अन्वेषण के लिए जारी किए गए परमिटों के अन्तर्गत आनेवाला इलाका 53,000 वर्ग किलोमीटर से बढ़कर 4,66,556 वर्ग किलोमीटर तक पहुँच चुका था। 2006 में योजना आयोग द्वारा गठित की गई एक उच्चस्तरीय समिति ने सुझाव दिया कि अन्वेषण परमिट के बाद खनन लाइसेंस जारी करने की प्रक्रिया को 'निर्बाध' बनाया जाए। 2008 में नई खनिज नीति जारी की गई जिसका मकसद यह था कि नियमन वातावरण को 'निवेश और प्रौद्योगिकीय प्रवाह के लिए और अनुकूल' बनाया जाए। नई खनिज नीति अधिकाधिक मशीनीकरण, निजीकरण और विदेशी निवेश की दिशा में केन्द्रित है। यह इस बात का संकेत है कि अब सरकार के लिए पर्यावरण नियमन केवल स्वैच्छिक प्रावधान रह गए हैं और कम्पनियों को निर्बाध हस्तान्तरण सुनिश्चित कर दिया गया है।

खनन उद्योग में नियमन का अभाव भारत और बाकी दुनिया के लालच को पूरा करने पर आमादा माँग आधारित अर्थव्यवस्था का अपरिहार्य परिणाम था। यह बात गैरकानूनी खनन के बारे आ चुकी बहुत सारी भंडाफोड़ की खबरों से समझी जा सकती है। 2006 से 2009 के बीच अकेले कर्नाटक में ही गैरकानूनी खनन के 11,896 मामले पाए गए थे। इसी दौरान आंध्र प्रदेश में इस तरह के 35,411 मामले सामने आए। स्थिति इस कदर काबू से बाहर जा चुकी थी कि केंद्र सरकार को पूरे मामले की जाँच का जिम्मा केन्द्रीय जाँच ब्यूरो (सीबीआई) को सौंपना पड़ा। कुछ राज्य सरकारों को बदनामी के डर से बहुत सारी गैरकानूनी खानों की बन्द करना पड़ा और सम्बन्धित अधिकारियों की गिरफ्तारियाँ हुईं।

निर्यात : हमारे भविष्य की नीलामी

भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण का नतीजा यह हुआ है कि प्राकृतिक संसाधनों को घरेलू और विदेशी, दोनों तरह की माँगों की पूर्ति के लिए खोल दिया गया है। इस घटनाक्रम को जायज ठहराने के लिए तर्क दिया जा रहा है कि इससे घरेलू आर्थिक विकास दर पर सकारात्मक असर पड़ेगा। लिहाजा, 2003-04 से अब तक वार्षिक निर्यात दर 35 प्रतिशत की रफ़्तार से बढ़ती रही है और 2011-12 में 300 अरब डॉलर तक पहुँच चुकी थी। निर्यात पर आश्रित आर्थिक विकास का मॉडल अपने आप में वांछनीय है या नहीं, यह अलग लेख का विषय है। फिलहाल अगर हम यह मान लें कि कुछ हद तक निर्यात वांछनीय या अनिवार्य है तो भी एक जिम्मेदारी भरी नीति में कम से कम निम्नलिखित सिद्धान्तों पर ध्यान जरूर दिया जाना चाहिए :

- निर्यातित वस्तुओं के निर्यात से घरेलू बाजार में उनकी कमी या कीमतों में इजाफे के कारण देश के नागरिकों की उन उत्पादों तक पहुँच प्रभावित न हो;
- उन उत्पादों के खनन या निर्माण से पारिस्थितिकीय स्थिरता पर असर न पड़े;
- जिन इलाकों से संसाधन निकाले जा रहे हैं वहाँ रहनेवाले समुदायों के अधिकारों का सम्मान किया जाए;
- स्थानीय समुदायों को सबसे प्राथमिक लाभान्वितों की श्रेणी में रखा जाए।

दुर्भाग्यवश वैश्वीकरण के दौर में निर्यात की प्रक्रिया इन सारे सिद्धान्तों के खिलाफ जारी रही है। यह हैरानी की बात नहीं है क्योंकि निर्यात के लक्ष्य विकास के मौद्रिक आँकड़ों के स्तर पर तय किए जा रहे हैं न कि प्रभावों की गुणवत्ता के आधार पर। खनन उद्योग के (जिसका एक बड़ा हिस्सा निर्यातोन्मुखी है) तेज इजाफे पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है। समुद्री मछुवाही इसी तरह का एक और उदाहरण है।

समुद्री उत्पादों का निर्यात 1990-91 में 1,39,419 टन था जो 2008-09 में बढ़कर 6,02,835 टन हो गया था। हालाँकि 1991 से पहले भी इस निर्यात में बहुत भारी इजाफा हुआ था (जो 1961-62 में मात्र 15,732 टन हुआ करता था) मगर वैश्वीकरण का दौर कई मायनों में ज्यादा अहमियत रखता है। जिन देशों में पहले भारत निर्यात नहीं करता था अब उन देशों में भी भारत का निर्यात जाने लगा है। नई प्रौद्योगिकियों के आने से भी समुद्री उत्पादन और निर्यात में लगातार इजाफा हुआ है। पहले केवल चन्द चीजों का लगभग एक दर्जन देशों को निर्यात किया जाता था जबकि अब 90 देशों को लगभग 475 तरह के समुद्री उत्पादों का निर्यात किया जा रहा है।

सवाल यह है कि इसकी इजाफे की लागत क्या रही है? आज हमारा मुल्क मात्रा और मूल्य, दोनों के लिहाज से दुनिया में दूसरा सबसे बड़ा *एक्वाकल्चर* उत्पादक देश बन चुका है। मगर यह भी सच है कि इसके एवज में हम भारी पारिस्थितिकीय क्षति से जूझ रहे हैं और परम्परागत मछुवारों व किसानों की आजीविका अस्त-व्यस्त होती जा रही है। एक अध्ययन से पता चला है कि आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में *श्रिम्प* (झींगा) *एक्वाकल्चर* की पर्यावरणीय लागतें इसकी आमदनी से 3.5 गुना ज्यादा रही हैं। (सालाना नुकसान : 6,728 करोड़ रुपए; सालाना आय : 1,778 करोड़ रुपए) जैसे-जैसे नए-नए इलाकों को श्रिम्प फार्मिंग में तब्दील किया जा रहा है मुलेट और पर्ल स्पॉट जैसी स्थानीय मछलियाँ खत्म होती जा रही हैं जो इन इलाकों के समुदायों का मुख्य आहार थीं।

वर्ष 2008 में जब समुद्री मछलियों का शिकार 30 लाख टन के नजदीक पहुँच गया था तब से ही तटीय समुद्र में मछलियों के अतिशिकार के साक्ष्य दिखाई देने लगे थे। कई प्रजातियों की समुद्र में भारी कमी दिखाई देने लगी थी। (जेम्स एवं किट्टो 2008) दसवीं पंचवर्षीय योजना के लिए तैयार की गई *वर्किंग ग्रुप ऑफ फिशरीज* की रिपोर्ट के मुताबिक इसकी मुख्य वजह यह है कि तटीय समुद्र को 'खुली पहुँच' का इलाका मान लिया गया है जहाँ परम्परागत मछुवाही समुदायों के भी कोई अधिकार तय नहीं हैं। (मैथ्यू 2003) मछुवाही की प्रौद्योगिकियों में भी भारी बदलाव आए हैं। अब *बॉटम ट्रालिंग* एक आम चलन बनता जा रहा है। फलस्वरूप मछली पकड़ने के जालों में पाई जाने वाली परम्परागत विविधता तथा समुद्र में मछलियों का सन्तुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक परम्परागत ज्ञान तेजी से खत्म होता जा रहा है।

सरकार का दावा है कि नई नीतियों के तहत बड़े ऑपरेटरों को केवल गहरे समुद्र में ही मछली पकड़ने की इजाजत दी जाएगी जहाँ परम्परागत मछुवारे नहीं जा पाते। मगर अभी तक के अनुभवों से तो यही पता चलता है कि बड़े-बड़े ट्रॉलर भी अक्सर तट के आसपास ही मछली ज्यादा पकड़ते हैं। ये ट्रॉलर मछलियों के प्रजनन काल में मछलियाँ पकड़ने से भी बाज नहीं आते जबकि ऐसा करना गैरकानूनी है। इन्हीं वजहों से ट्रॉलर मालिकों और स्थानीय मछुवारों के बीच अक्सर मारपीट होती रहती है।

निर्यात के उदारीकरण के साथ-साथ भारतीय अर्थव्यवस्था को तरह-तरह के आयातों के लिए भी खोल दिया गया है। जो नीतियाँ या कार्यक्रम घरेलू खेती और उत्पादन तथा पर्यावरण एवं उपभोक्ता सुरक्षा को प्राथमिकता देती हैं उन्हें लगभग ताक पर रख दिया गया है।

पिछले तकरीबन एक-डेढ़ दशक के दौरान भारत औद्योगिक देशों में पैदा होनेवाले खतरनाक और विषैले कचरे का मुख्य आयातक बन गया है। अब हमारे यहाँ सौ से भी ज्यादा किस्म के कचरे का आयात किया जा रहा है। इसमें से दर्जन भर किस्म का कचरा बहुत खतरनाक पाया गया है। हर साल कई लाख टन धातु कचरे का भारत में आयात किया जा रहा है। 1996-97 में कचरे का चूरा और पीसीवी स्क्रैप का महज 33 टन आयात हुआ करता था जो 2008-09 में बढ़कर 12,224 टन तक पहुँच गया था। 2003-04 में प्लास्टिक कचरे का आयात 101,312 टन हुआ करता था जो 2008-09 तक चार गुना से भी ज्यादा बढ़कर 465,921 टन हो चुका था। इसके पीछे अक्सर विशाल कॉरपोरेट घरानों का हाथ रहा है। *पेप्सिको कम्पनी* अपनी प्लास्टिक बोतलें भारत भेज रही है (इन बोतलों की रीसाइक्लिंग बहुत मुश्किल होती है); *हिन्दुस्तान लीवर लिमिटेड* (*यूनिलीवर* की सहायक कम्पनी) तमिलनाडु की एक बस्ती के पीछे पारायुक्त कचरा फेंकने की दोषी पाई जा चुकी है। स्थानीय समुदाय द्वारा किए गए विरोध के फलस्वरूप *तमिलनाडु प्रदूषण बोर्ड* ने कार्रवाई की और कम्पनी को आदेश दिया कि वह इस तरह फेंके गए 416 टन कचरे को फौरन वहाँ से हटाए।

आयातित कचरे का एक बड़ा हिस्सा कम्प्यूटर और इलेक्ट्रॉनिक उद्योग से सम्बन्धित है। कचरे से सम्बन्धित मुद्दों पर काम करनेवाली स्वैच्छिक संस्था *टॉक्सिक्स लिंक* की एक जाँच से पता चला है कि दिल्ली की रीसाइक्लिंग इकाइयों में आनेवाला लगभग सत्रह प्रतिशत इलेक्ट्रॉनिक कचरा औद्योगिक देशों से भारत में आया है। *टॉक्सिक्स लिंक* ने पाया कि *एटेरो* नामक कम्पनी को 2009 में 8,000 टन इलेक्ट्रॉनिक कचरे के आयात की अनुमति दी गई थी।

उपभोक्तावाद और कचरा

आडम्बरपूर्ण उपभोक्तावाद की मौजूदा लहर एक बहुत छोटे अभिजात तबके में विदेशी उपभोक्ता उत्पादों की प्यास से पैदा हो रही है। 1980 के दशक से पहले यह तबका विदेशों से इन उत्पादों को मँगाता था और इसके लिए अच्छा-खासा सीमा शुल्क चुकाता था (या उन उत्पादों को तस्करी के जरिए भारत में लाया जाता था)। अस्सी के दशक में तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने आयात क्षेत्र को खोलना शुरू किया। मगर उपभोक्तावाद को सबसे बड़ा उछाल नब्बे के दशक में शुरू हुए आर्थिक 'सुधारों' से मिला जिसने घरेलू स्तर पर भी ऐश्वर्यपूर्ण उत्पादों का एक विशाल उद्योग खड़ा कर दिया है।

विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन में तेज इजाफे के चलते संसाधनों के दोहन (खनन, पेड़ों की कटाई आदि) से लेकर उत्पादन (प्रदूषण, कामकाजी खतरे आदि) तक जबरदस्त पारिस्थितिकीय दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं। इस तरह के उपभोक्तावाद और पर्यावरण के सम्बन्धों पर अभी मुकम्मल अध्ययन नहीं हुए हैं मगर यह रुझान किस दिशा में जा रहा है, इसके इशारे साफ दिखाई देने लगे हैं। *सीएसओ* तथा *एनसीएईआर* द्वारा किए गए अस्सी और नब्बे के दशकों के सर्वेक्षणों के आधार पर *दि एनर्जी रिसर्च इंस्टीट्यूट (टेरी)* ने बताया है कि इस दौरान गैर-पुनर्नवीकरणीय पदार्थों (जैसे खनिज पदार्थों), औद्योगिक उपभोक्ता वस्तुओं (जिनमें सीएफसी के सहारे चलने वाले रेफ्रिजरेटर और एयरकंडीशनर जैसे उपकरण भी शामिल हैं जो पर्यावरण पर सीधा असर डालते हैं) और वाहनों के इस्तेमाल में बहुत तेजी से इजाफा हुआ है। यह सिर्फ बढ़ती आबादी का नतीजा नहीं है बल्कि हमारी बदलती जीवन शैली की भी देन है। उदाहरण के लिए अब उपभोक्ताओं की पसन्द-नापसन्द बदल रही है। खुली वस्तुओं की जगह डिब्बाबन्द वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाने लगी है। *टेरी* का अनुमान है कि पैकेज्ड कागज का उपभोग 1997 के 2.7 किलोग्राम प्रति व्यक्ति, प्रतिवर्ष से बढ़कर 2047 तक सालाना 13.5 किलोग्राम प्रति व्यक्ति तक बढ़ जाएगा। इसका मतलब है कि अकेले पैकेजिंग के लिए 231 लाख टन कागज का इस्तेमाल होगा। इससे ठोस कचरे में इजाफा भी निश्चित है। आज खतरनाक कचरे की मात्रा रोंगटे खड़े कर देने वाली है। 2006 में हमारे यहाँ लगभग 44 लाख टन खतरनाक कचरा पैदा हो रहा था। इलेक्ट्रॉनिक कचरा महज दो-ढाई दशकों की परिघटना है। 2005 में यह कचरा 146,180 टन था जो 2012 तक संभवतः 8,00,000 टन से ऊपर पहुँच जाएगा।

भारतीयों के जीवन में प्लास्टिक पदार्थों की आज जैसी घुसपैठ का दो दशक पहले अन्दाजा भी नहीं लगाया जा सकता था। 1991 से अब तक भारत में विभिन्न प्रकार के प्लास्टिकों

की उत्पादन क्षमता 10,00,000 टन से बढ़कर 50,00,000 टन से भी ऊपर जा चुकी है। 2000/2001 में प्रति व्यक्ति 'वर्जिन' प्लास्टिक्स का उपभोग 3.2 किलोग्राम प्रतिवर्ष था (अगर रीसाइकिल की गई प्लास्टिक को भी जोड़ लें तो 5 किलोग्राम) जबकि 1990/91 में यह उपभोग केवल 0.8 किलोग्राम प्रतिवर्ष था। 2000-01 तक भारत में हर रोज 5,400 टन प्लास्टिक कचरा पैदा होने लगा था–यानी हर साल लगभग 20,00,000 टन कचरा। (बाद के आँकड़े अभी उपलब्ध नहीं हैं)

उपभोग की असमानताएँ

2007 में *ग्रीन पीस* इंडिया ने भारत में वायुमंडलीय परिवर्तन से सम्बन्धित मुद्दों पर एक रिपोर्ट तैयार की थी। इसमें दिखाया गया था कि भारत की आबादी का एक बहुत छोटा सा हिस्सा सबसे ज्यादा कार्बन उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार है। यह सच्चाई इस तथ्य से छिपी हुई थी कि भारत के अधिकांश लोग बहुत कम कार्बन उत्सर्जन करते हैं जिसकी वजह से प्रति व्यक्ति आँकड़ा काफी नीचे रहता है। इस रिपोर्ट में पाया गया था कि भारत की सबसे अमीर आबादी (जिसकी आमदनी 30,000 रुपए माहवार से ज्यादा है) गरीबों के मुकाबले (जिनकी आमदनी 3,000 रुपए माहवार से कम है और यह आबादी भारत की आधी से ज्यादा आबादी है) 4.5 गुना (प्रति व्यक्ति) ज्यादा कार्बन उत्सर्जन की जिम्मेदार है। 8000 रुपए माहवार से ज्यादा कमाने वाले 15 करोड़ भारतीय पहले ही 2.5 टन प्रति व्यक्ति की वैश्विक सीमा से ऊपर जा चुके हैं जिसे वैज्ञानिक तापमान वृद्धि को 2^0 से नीचे रखने के लिए जरूरी मानते हैं।

कार्बन उत्सर्जन में इस जबर्दस्त फर्क की क्या वजह है? *ग्रीन पीस* ने पाया है कि सबसे बड़ा फर्क बिजली से चलने वाले घरेलू उपकरणों के इस्तेमाल में देखा जा सकता है। हालाँकि अब बल्ब, पंखे और टेलीविजन जैसे उपकरण लगभग सभी वर्गों में पहुँच चुके हैं (अभी भी इनका इस्तेमाल अमीरों में ही ज्यादा है) मगर कई उपकरण मुख्य रूप से केवल अमीर परिवारों में ही मिलते हैं : एयर कंडीशनर्स, बिजली के गीजर, वॉशिंग मशीन, बिजली या इलेक्ट्रॉनिक किचन का उपकरण, डीवीडी प्लेयर्स, कम्प्यूटर, आदि। दूसरी बात, जीवाश्म ईंधनों से चलने वाली गाड़ियों का जिनमें गैस से चलने वाली कारें और हवाई जहाज भी शामिल हैं, सबसे ज्यादा इस्तेमाल भी अमीरों द्वारा ही किया जा रहा है।

कार्बन उत्सर्जन उपभोग असमानताओं का सिर्फ एक पैमाना होता है। अगर हम सबसे अमीर वर्गों द्वारा उपभोग किए जा रहे सारे उत्पादों और सेवाओं को जोड़ लें और इस वर्ग द्वारा पैदा किए जा रहे कुल कचरे को जोड़ लें तो पूरी सम्भावना है कि उनका कुल पारिस्थितिकीय प्रभाव सबसे निर्धन वर्गों के मुकाबले उससे भी कहीं ज्यादा भयानक होगा जितना ऊपर दिखाई दे रहा था।

आन्तरिक उदारीकरण : खुला खेल फर्रूखाबादी!

दुनिया के तमाम औद्योगिक देश पर्यावरण मानकों में सख्ती और औद्योगिक व विकास परियोजनाओं पर कड़े नियंत्रणों की ओर बढ़ते रहे हैं। इसकी वजह यह है कि परियोजना अधिकारी और कॉरपोरेट घराने अपने आप पर्यावरणीय अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व भरा व्यवहार नहीं करते। भारत में यह प्रक्रिया उल्टी दिशा में चल रही है।

1994 में पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम, 1986 के तहत एक अधिसूचना जारी करके यह अनिवार्य घोषित किया गया था कि निश्चित परियोजनाओं के लिए *पर्यावरण प्रभाव आकलन (ईआईए)* आवश्यक होगा। भले ही यह अधिसूचना काफी कमजोर थी और क्रियान्वयन सम्बन्धी तमाम समस्याओं से ग्रस्त थी फिर भी उसने विकास योजनाओं में एक हद तक पर्यावरण सम्बन्धी संवेदनशीलता का अंश जरूर पैदा कर दिया था। उद्योगपति, राजनेता और बहुत सारे विकास अर्थशास्त्री इसे सिर्फ एक सिरदर्द मानते थे। इसी परेशानी को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने एक कमेटी का गठन किया जिसने सुझाव दिया कि पर्यावरणीय 'रुकावटों' को कम किया जाए। पर्यावरण अभिशासन का आकलन करने के लिए विश्व बैंक द्वारा जारी किए गए एक अध्ययन में भी इस प्रावधान तथा अन्य नियमन प्रावधानों में 'सुधार' यानी उनको 'कमजोर' करने का सुझाव दिया गया। इस तरह 2006 में नागरिक समाज के भारी विरोध के बावजूद सरकार ने इस अधिसूचना को बदल दिया। इस संशोधन के बाद उद्योगों और विकास परियोजनाओं के लिए पर्यावरणीय स्वीकृति पाना बहुत आसान बना दिया गया और अनिवार्य जन सुनवाई के प्रावधान को तो बहुत ही कमजोर कर दिया गया था। इस अधिसूचना से पर्यटन को भी ऐसी परियोजनाओं की सूची से हटा दिया गया जिनके लिए पर्यावरणीय स्वीकृति की जरूरत होती है जबकि इस आशय के साक्ष्य बड़ी मात्रा

में मौजूद थे कि बहुत सारे इलाकों में यह व्यवसाय काबू से बाहर जा चुका है।

इन बदलावों को (तथा इस अध्याय में उल्लिखित अन्य बदलावों) कुल नतीजा यह हुआ है कि पर्यावरणीय स्वीकृति चाहने और पाने वाली परियोजनाओं की संख्या में दिन दूना, रात चौगुना इजाफा हुआ है जिसकी वजह से केन्द्रीय पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के लिए इन परियोजनाओं के निहितार्थों की बारीकी से जाँच कर पाना या उनके नतीजों पर नजर रख पाना लगभग नामुमकिन हो चुका है। 2009 की शुरुआत में ही पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के पास 6000 से ज्यादा परियोजनाएँ थीं जिन पर निगरानी की जरूरत थी जबकि इस काम के लिए मंत्रालय के पास सिर्फ 20 कर्मचारी थे। जिन परियोजनाओं को पर्यावरणीय स्वीकृति दी जा चुकी है, उन पर 3-4 साल में सिर्फ एक बार नजर रखी जा रही थी।

पर्यावरण नियमन पर वैश्वीकरण के प्रभाव सबसे ज्यादा वन संरक्षण अधिनियम, 1980 की (जिसके तहत वन भूमि के सभी प्रकार के गैर-वन प्रयोग के प्रस्तावों को केन्द्र सरकार की मंजूरी की जरूरत होती है) पड़ताल करने पर सामने आते हैं। व्यवहार के धरातल पर यह कानून वन संरक्षण अधिनियम की जगह वन सफाया अधिनियम बन चुका है। जैसा कि खनन उद्योग के प्रसंग में पीछे इशारा किया गया था, वैश्वीकरण के दौर में वन भूमियों के सफाए में लगातार इजाफा हुआ है। 1980-81 के बाद जितने जंगलों का गैर-वन योजनाओं के लिए इस्तेमाल किया गया है उनमें से लगभग आधे जंगलों को 2001-02 के बाद ही गैर वन इस्तेमाल के लिए उपलब्ध कराया गया है।

जो इलाके वन्य जीवन सुरक्षा और जैव विविधता के लिए चिह्नित किए गए हैं उनको भी सरकार ने नहीं बख्शा। पिछले दो दशकों के दौरान राष्ट्रीय पार्कों और अभयारण्यों में जमीन के *डाइवर्जन* के असंख्य प्रस्ताव आए हैं और उनमें से बहुतों को मंजूरी भी दे दी गई है। ऐसे कुछ भूभागों को तो सीधे-सीधे *डीनोटिफाई* या *डीगजेट* भी कर दिया गया है। मिसाल के तौर पर सुधारों की प्रक्रिया के शुरू होने के कुछ ही समय बाद दरलाघाट अभयारण्य (हिमाचल प्रदेश), नारायण सरोवर अभयारण्य (गुजरात), ग्रेट हिमालयन नैशनल पार्क (हिमाचल प्रदेश) के कई सौ वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल को अनारक्षित घोषित कर दिया गया था ताकि वहाँ खनन, औद्योगिक एवं बाँध-परियोजनाओं को शुरू किया जा सके। यह सिलसिला आगे भी जारी रहा है और कई दर्जन दूसरे आरक्षित और संरक्षित क्षेत्रों को भी इस तरह की परियोजनाओं के लिए उपलब्ध करा दिया गया है।

पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 के तहत 1991 में तटीय नियमन क्षेत्र (सीआरजेड) अधिसूचना जारी की गई थी। इसका मकसद पारिस्थितिकीय एवं आजीविका हितों के लिए हानिकारक गतिविधियों को नियमन के दायरे में लाना था। इस अधिसूचना में कई बड़ी खामियाँ थीं और ज्यादातर राज्यों ने इसके क्रियान्वयन में उदासीनता ही दिखाई है फिर भी इस अधिसूचना से बहुत सारे तटीय इलाकों और वहाँ रहनेवाले मछुवारों को कुछ हिफाजत जरूर मिली थी। इसी वजह से यह अधिसूचना औद्योगिक एवं व्यावसायिक हित समूहों की आँख का काँटा बनी हुई थी। आखिरकार उनके दबाव में सरकार ने मूल अधिसूचना के लगभग बीस प्रावधानों में भारी ढील दे दी। इसके बाद 2005-06 में सरकार ने अधिसूचना को पूरी तरह बदलने की प्रक्रिया शुरू की। सरकार ने एक ऐसी व्यवस्था का सुझाव रखा जिसमें राज्य सरकारें यह तय कर सकें कि तटीय इलाकों में कहाँ किन चीजों को स्वीकृति दी जा सकती और किन चीजों को नहीं दी जा सकती। नागरिक समाज संगठनों और मछुवारों के समुदायों ने (*नेशनल फिशवर्कर्स फोरम* जैसे नेटवर्कों के जरिए) इस प्रस्ताव की कड़े शब्दों में आलोचना की है। उनका कहना है कि यह प्रस्ताव व्यावसायिक और औद्योगिक हितों के सामने घुटने टेकने का बेशर्म उदाहरण है। इसके जवाब में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा और *सीआरजेड* मसविदा अधिसूचना का समय खत्म हो गया। इस रिपोर्ट के लिखे जाने के समय तक नई अधिसूचना के लिए नियत व्यापक सलाह-मशविरे का वक्त भी गुजर चुका था।

वैश्वीकरण के दौर में पर्यटन उद्योग को जबर्दस्त बढ़ावा मिला है। 1996 में लगभग चौदह करोड़ घरेलू पर्यटक होते थे जबकि 2007 में यह संख्या बढ़कर 52.7 करोड़ तक पहुँच गई थी। इसी दौरान विदेशी सैलानियों की तादाद भी 22.9 लाख से बढ़कर 50.8 लाख हो गई। भारत के कई इलाकों में पहले सैर सपाटे की इजाजत नहीं थी। पिछले कुछ सालों के दौरान ऐसे बहुत सारे इलाकों को भी पर्यटन उद्योग के लिए खोल दिया गया है। इनमें पारिस्थितिकीय, सांस्कृतिक एवं रक्षा की दृष्टि से संवेदनशील इलाके हैं जिनमें लद्दाख, अंडमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप और पूर्वोत्तर भारत के बहुत सारे हिस्से प्रमुख हैं। पहले ही वैश्वीकरण की भेंट चढ़ चुके दूसरे इलाके बेहिसाब, अनियंत्रित पर्यटन गतिविधियों की वजह

से त्रस्त हैं। पिछले कुछ सालों के दौरान पर्यटन उद्योग द्वारा कानूनों के उल्लंघन की सैकड़ों घटनाएँ सामने आ चुकी हैं। तटीय इलाकों में बने रिजॉर्ट्स (होटल) खुलेआम *सीआरजेड अधिसूचना* की धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। कानूनों के उल्लंघन के 1500 से ज्यादा मामले अकेले केरल के कोवलम तट के इलाके में दर्ज किए जा चुके हैं। कान्हा, बांधवगढ़, कॉर्बेट, पेरियार, रणथंभौर, बाँदीपुर और नगरहोल जैसे टाइगर रिजर्व और अन्य संरक्षित इलाके भी रिजॉर्ट्स से घिर चुके हैं जिनकी वजह से इन स्थानों के कर्मचारियों और सुविधाओं पर जबर्दस्त दबाव पैदा हुआ है। नतीजतन, पर्यटन के नकारात्मक प्रभावों पर अंकुश लगाने के लिए बनाई गई व्यवस्था का खुलेआम उल्लंघन हो रहा है और इन संरक्षित जंगलों की सार-संभाल के लिए कोई बंदोबस्त नहीं है।

सरकार हालात से भली-भाँति परिचित है। फिर भी उसने पर्यटन उद्योग पर नकेल कसने के लिए कोई कदम नहीं उठाया। इसके विपरीत सरकार अब कई क्षेत्रों को विशेष पर्यटन क्षेत्र (एसटीजेड) घोषित करने पर सोच रही है। ये ऐसे क्षेत्र होंगे जहाँ पर्यटन-उद्योगपतियों को जबर्दस्त सुविधाएँ दी जाएँगी। उदाहरण के लिए ऐसे इलाकों में उद्यमियों को दस साल तक 100 प्रतिशत की कर रियायत और एकमुश्त स्वीकृति की व्यवस्था होगी। ये इलाके काफी बड़े होंगे और उनमें होटलों के 2,000 से 3,000 कमरों तक का बंदोबस्त होगा।

2009 मे गठित सरकार में नियुक्त पर्यावरण एवं वन राज्य मंत्री ने पर्यावरणीय निगरानी के लिए कुछ स्वागतयोग्य कदम उठाए थे। परन्तु तेज कानूनी कार्रवाई के लिए राष्ट्रीय पर्यावरण ट्राइब्यूनल के रूप में एक नई संस्था का गठन और एक स्वतन्त्र नियमन निकाय के रूप में *राष्ट्रीय पर्यावरण सुरक्षा प्राधिकरण* बनाने का प्रस्ताव स्वागत योग्य मगर बहुत सीमित प्रयास हैं क्योंकि कानून में पहले ही बेहिसाब खामियाँ हैं और 'विकास' परियोजनाओं और प्रक्रियाओं के पर्यावरणीय टिकाऊपन के सवाल पर सरकार का रवैया अभी भी बदला नहीं है।

पर्यावरण-अभिशासन पर इस हमले के साथ-साथ भारतीय समाज के कुछ बेहद संवेदनशील तबकों को दी गई सामाजिक सुरक्षाओं को भी कमजोर या नजरअन्दाज करने की कोशिशें की जा रही हैं। *भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894* अंग्रेजों के जमाने का कानून है। यह सबसे विनाशकारी कानूनों में से एक है जो 'जनहित' के नाम पर सरकार को किसी भी जमीन के अधिग्रहण की छूट प्रदान कर देता है। 1984 में संशोधन करके इसे और सख्त बनाया गया था जबकि 2013 में तैयार किए गए नए संस्करण में तो इसे राज्य और निजी निकायों द्वारा जमीन पर कब्जे का साधन ही बना दिया गया है। (आज के सन्दर्भ में 2013 के कानून को बचाए रखना ही क्रान्तिकारी मालूम पड़ रहा है। *सं.*)

भारत के आदिवासी इलाकों में, जहाँ देश के कुछ सबसे संवेदनशील समुदाय और सबसे बेहतरीन जंगल है, जमीन के विशाल भूभाग या तो खनन, स्टील प्लांट और अन्य उद्योगों के लिए औद्योगिक घरानों को सौंप दिए गए हैं या उनको सौंपने के प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा है। मगर आदिवासियों के प्रतिरोध और कथित 'नक्सल' या 'माओवादी' संगठनों के प्रभाव की वजह से इनमें से ज्यादातर योजनाएँ लागू नहीं ही पा रही हैं। हाँ, इतना जरूर हुआ है कि 'नक्सलवाद' से लड़ने के नाम पर राज्य सरकारों ने आदिवासियों को ही एक दूसरे के खिलाफ खड़ा कर दिया है। 'सलवा जुडूम' (शान्तिपूर्ण शिकार) नाम की इस मुहिम से कई इलाकों में गृहयुद्ध जैसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमें हजारों ग्रामीणों को या तो जबरन उनके गाँव-घरों से उजाड़ दिया गया है या वे भाग कर दूसरे इलाकों में चले जाने के लिए विवश हो गए हैं। केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा गठित की गई एक उच्चस्तरीय समिति ने अपनी मसविदा रिपोर्ट में यह संकेत दिया था कि *एसआर* और *टाटा* जैसे कॉरपोरेट घराने "कोलम्बस के बाद आदिवासी जमीनों पर सबसे बड़े कब्जे" में लिप्त हैं मगर अन्तिम रिपोर्ट में से इन घरानों के नाम और इस निष्कर्ष, दोनों को हटा दिया गया। इसी बीच, *भारतीय उद्योग एवं वाणिज्य परिसंघ (फिक्की)* द्वारा नवम्बर 2009 में जारी की गई एक रिपोर्ट *'राष्ट्रीय सुरक्षा एवं आतंकवाद'* में लगभग खुलकर यह माँग की गई है कि मध्य भारत को कम्पनियों द्वारा दोहन के लिए खोल दिया जाए। इसमें कहा गया है कि "खनिज भंडारों से भरे ग्रामीण इलाकों की विशाल पट्टियों में बढ़ता माओवादी उग्रवाद औद्योगिक निवेश योजनाओं को गहरी चोट पहुँचा सकता है"... "जब भारत को अपने औद्योगिक तन्त्र को और पुख्ता करना है और जब विदेशी कंपनियाँ यहाँ आ रही हैं, उसी समय नक्सलवादी गुट खनन एवं स्टील कंपनियों को टक्कर दे रहे हैं जबकि ये भारत की दीर्घकालिक सफलता के लिए बहुत अनिवार्य हैं।"... "खतरे की घंटी बजाने का एक कारण यह है कि कॉरपोरेट जगत और नक्सलवादियों के जंगली इलाके लगातार एक-दूसरे के नजदीक आते जा रहे हैं...भारत के सम्पन्न शहरी उपभोक्ता ऑटो, उपकरण एवं घर खरीद रहे हैं; उन्हें देश की सड़कों, पुलों और रेल मार्गों में सुधार की जरूरत है। भारतीय मेन्युफैक्चरिंग में

तेजी लाने और उपभोक्ताओं को संतुष्ट करने के लिए देश को सीमेंट, स्टील और बिजली की रिकॉर्ड मात्रा चाहिए।...इस राष्ट्रीय चुनौती को पूरा करने के लिए एक उपयुक्त सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण जरूरी है। मगर नक्सलवादियों के साथ टकराव बढ़ता जा रहा है।...छत्तीसगढ़ में जो कि नक्सलवादी गतिविधियों का गढ़ बना हुआ है, देश के 23 प्रतिशत लौह अयस्क भंडार और बेहिसाब कोयला जमीन में दबा है। छत्तीसगढ़ सरकार ने *टाटा स्टील* और *आर्सेलर मित्तल (एमटी), डी बियर्स कन्सॉलिडेटेड माइन्स, बीएचपी बिलिटन (बीएचपी)* और *रियो टिंटो (आरटीपी)* जैसी बड़ी-बड़ी कंपनियों के साथ खरबों रुपए मूल्य के समझौते किए हैं। देश की दूसरी राज्य सरकारों ने भी इसी तरह के समझौतों पर दस्तखत किए हुए हैं। *कैटरपिलर (सीएटी)* जैसी अमेरिकी कंपनियाँ पूर्वी भारत में खुदाई कर रही खनन कंपनियों की अपने उपकरण बेचना चाहती हैं।"

गैर टिकाऊपन की तरफ सीधी छलाँग?

हमारे देश में पिछले कुछ दशकों के दौरान पर्यावरण के साथ जिस तरह का बर्ताव किया गया है, उसे देखते हुए पर्यावरणवादी और सामाजिक कार्यकर्ता बार-बार आगाह करते रहे हैं कि हम 'विकास' के एक ऐसे रास्ते पर चल पड़े हैं जो टिकाऊ नहीं है। प्रेक्षणों और अनुभवों पर आधारित इस निष्कर्ष की *ग्लोबल फुटप्रिंट नेटवर्क (जीएफएन)* तथा *कन्फडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज (सीआईआई)* की एक रिपोर्ट में भी तस्दीक हो चुकी है। 2008 में जारी की गई इस रिपोर्ट में कहा गया था कि :

- अमेरिका और चीन के बाद भारत के पारिस्थितिकीय फुटप्रिंट यानी पदचिह्न सबसे बड़े है;
- भारत के लोग उससे लगभग दो गुना प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर रहे हैं जितनी कि हमारे देश की क्षमता है (यानी अपनी 'जैवक्षमता' से दोगुना);
- भारतीयों के उपभोग को सँभाल पाने की प्रकृति की क्षमता पिछले चार दशकों के भीतर तेजी से घट कर लगभग आधी ही रह गई है।

टेरी ने भी 1990 के दशक के आखिर में एक अध्ययन में यह निष्कर्ष दिया था कि कृषि उत्पादन में गिरावट, जंगलों के स्तर में गिरावट की वजह से लकड़ी के मूल्य में कमी, प्रदूषित वायु एवं जल प्रदूषण के कारण बढ़ती स्वास्थ्य लागतों और घटते जल संसाधनों की वजह से भारत की पर्यावरणीय लागतें पहले ही जीडीपी के 10 प्रतिशत से ऊपर जा चुकी हैं। इसके अलावा मिट्टी के क्षरण की वजह से जो आर्थिक नुकसान हो रहा है वह सालाना कृषि उपज के 11-26 प्रतिशत तक पहुँच चुका है।

भारत के ऊर्जा परिदृश्य पर तैयार की गई एक रिपोर्ट में कुछ सकारात्मक विश्लेषण मिलता है : "भारतीय अर्थव्यवस्था में अल्पकार्बन वृद्धि के कुछ ठोस पहलू हैं जिनकी वजह से यहाँ की ऊर्जा एवं कार्बन डाइऑक्साइड सघनता चीन से कम है और अमेरिका के समकक्ष बैठती है।" मगर रिपोर्ट का निष्कर्ष है कि "इन आशावादी लक्षणों के बावजूद, भारत किसी भी लिहाज से टिकाऊ विकास के रास्ते पर नहीं चल रहा है।" इसकी वजह यह है कि यहाँ विकास असमान रहा है, आबादी का एक बहुत बड़ा तबका पीछे छूट गया है और ऊर्जा क्षेत्र की कार्बन सघनता अभी भी दुनिया में सबसे ज्यादा है क्योंकि यह अभी भी अकुशल कोयला प्रौद्योगिकी और वितरण प्रणालियों पर आश्रित है।

वायुमंडलीय परिवर्तन : प्रभाव और प्रतिक्रिया

1980 के दशक में जब दक्षिण के देशों पर आर्थिक वैश्वीकरण की नीतियाँ थोपने का सिलसिला शुरू हुआ था तब से अब तक वायुमंडलीय परिवर्तन को जन्म देने वाले उत्सर्जनों में भी जबर्दस्त इजाफा हुआ है। 1985 से अब तक वैश्विक व्यापार में जबर्दस्त उछाल (जिसके लिए वस्तुओं और लोगों की आवाजाही की जरूरत पड़ती है) कुछ प्रमुख दक्षिणी अर्थव्यवस्थाओं के उभार (दक्षिण पूर्व एशिया, चीन, भारत) जो कि जीवाश्म ईंधनों पर आश्रित है, तथा विकास एवं व्यापार सम्बन्धी प्राकृतिक संसाधन क्षरण (खासतौर से जंगलों की कटाई) के फलस्वरूप 1985 से अब तक कार्बन डाइऑक्साइड उत्सर्जन लगभग दोगुना हो चुका है।

भारत की कई तरह के प्रभावों का सामना करना है। बाईसवीं शताब्दी की शुरुआत तक समुद्री जलस्तर में लगभग एक मीटर का इजाफा हो जाएगा जिससे लगभग 5,764 वर्ग किलोमीटर जमीन समुद्र के पेट में समा जाएगी। इस क्षेत्रफल में रहनेवाले 70 लाख से ज्यादा लोग विस्थापित होंगे। वर्षा के रुझानों में बदलाव से वर्षा-जल की मात्रा में तो इजाफा होगा मगर बहुत सारे इलाकों में मात्रा और बारिश की अवधि, दोनों घट जाएगी जिससे ऐसे सूखे और बाढ़ों की स्थिति पैदा होगी जिनका अभी तक मानव सभ्यता ने कभी सामना नहीं किया

था। इसके साथ ही, ज्यादातर आकलनों के मुताबिक, तापमान वृद्धि से खाद्यान्न उत्पादन में कमी आ जाएगी। कुछ फसलों में यह गिरावट 20 प्रतिशत तक होगी हालाँकि कुछ लोगों का कहना है कि उत्पादन बढ़ भी सकता है। हिमालय के ग्लेशियरों के तेजी से पिघलते जाने से (जिसकी रफ्तार गम्भीर वैज्ञानिक बहस का विषय बन गई है मगर इस बात पर कोई असहमति नहीं है कि ग्लेशियर पिघलते जा रहे हैं) पूरे उत्तरी भारत में नदी आधारित आजीविकाओं पर खतरा पैदा हो जाएगा। समुद्री पानी के तापमान में बदलाव से समुद्र की उत्पादकता पर भी फर्क पड़ेगा, समृद्ध शैवाल व्यवस्थाएँ मरने लगेंगी और मछलियों की आवाजाही के रुझानों में बदलाव आएँगे जिनका सामना करना मछुवारों के लिए मुश्किल होगा।

हालाँकि भारत की वैश्विक मुद्रा उत्तरी देशों से जवाबदेही माँगने की रही है मगर उसकी अपनी घरेलू नीतियाँ कमजोर और अस्थिर रही हैं। 2009 में *नेशनल एक्शन प्लान ऑन क्लाइमेंट चेंज (एनएपीसीसी)* जारी किया गया था जिसमें कुछ सकारात्मक तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। जैसे, सौर ऊर्जा पर विशेष रूप से जोर दिया गया है और ऊर्जा कुशलता की बात की गई है। मगर इन प्रावधानों के साथ अवधारणात्मक और क्रियान्वयन सम्बन्धी समस्याएँ भी बनी हुई हैं। (जैसे, अगर आप सिर्फ सौर ऊर्जा पर फोकस रखते हैं और दूसरी पुनर्नवीकरणीय ऊर्जाओं पर ध्यान नहीं देते हैं तो क्या होगा? विकेंद्रीकृत ऊर्जा उत्पादन पर ध्यान नहीं दिया गया है, ऊर्जा कुशलता के मामले में कई क्षेत्र नदारद हैं।) बहुत सारे दूसरे तत्त्व (जैसे टिकाऊ खेती और पानी पर अलग-अलग मिशनों की स्थापना) पुरानी तथा दकियानूसी सोच में ही डूबे हुए हैं और नई सोच दिखाई नहीं देती। *वाटर मिशन* में बड़े बाँधों पर निर्भरता का ही राग अलापा जा रहा है जबकि उनकी बेहिसाब पारिस्थितिकीय एवं सामाजिक लागतों पर चुप्पी साध ली गई है। खेती के क्षेत्र में रासायनिक उर्वरकों के (जो भारत में छह प्रतिशत वायुमंडलीय उत्सर्जनों के लिए जिम्मेदार हैं) अंधाधुंध इस्तेमाल से जैविक इनपुट्स की तरफ बढ़ने का हम एक बहुत अच्छा मौका गँवा चुके हैं। (इस मिशन की स्थापना का काम अभी जारी है) इस बात का लगभग न के बराबर उल्लेख है कि भारत की आबादी के अलग-अलग हिस्सों की 'वायुमंडलीय परिधि' में कितनी असमानता है और देश के महाधनी तबके किस तरह के भोंडे उपभोक्तावाद का जीवन जी रहे हैं। *एनएपीसीसी* का मसविदा तैयार हो चुका है और अलग-अलग मिशनों के जरिए इस पर काम चल रहा है मगर इसमें जनता की राय और पारदर्शिता के लिए लगभग कोई जगह नहीं है। कुल मिलाकर यह दस्तावेज भी 'विकास' और तरक्की के उस मॉडल की बुनियादी खामियों को चुनौती नहीं देता जिनकी वजह से वायुमंडलीय संकट पैदा हो रहा है।

संकट-दर-संकट : भोजन, पानी, रोजगार

भारत की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा और कई गम्भीर संकटों से जूझ रहा है। उसके सामने खाने की असुरक्षा, पानी की कमी, ईंधन की अनुपलब्धता और रोजगारों के छिन जाने का संकट पैदा हो गया है मगर विकल्प नजर नही आ रहा है। ये सारे संकट वैश्वीकरण के इस दौर से पहले और यहाँ तक कि 'विकास' के आधुनिक रूपों से पहले भी मौजूद थे। मगर सवाल यह है कि 'विकास' और वैश्वीकरण को तो इसीलिए शुरू किया गया था कि वे इन संकटों को दूर कर देंगे। विडंबना यह है कि उन्होंने इन संकटों को दूर करने की बजाय और घना कर दिया है।

आइए, पहले खाद्यानों की सुरक्षा की बात करें। नब्बे के दशक की शुरुआत में ऐसी आबादी 24 प्रतिशत थी जिसके पास दो वक्त की रोटी का इंतजाम नहीं था। 2004-06 में यह संख्या 22 प्रतिशत रह गई थी, यानी उसमें मामूली गिरावट आई थी। इससे भी ज्यादा सकते में डाल देने वाली बात यह है कि आज दुनिया के सबसे ज्यादा कुपोषित लोग भारत में ही हैं : खाद्य एवं कृषि संगठन (एफएओ) का अनुमान है कि 2004-06 के दौरान 25.1 करोड़, यानी देश की लगभग एक चौथाई आबादी कुपोषित थी। हमारे पास भोजन की कमी नहीं है। *भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई)* के गोदाम लगातार भरे हुए हैं। इसके बावजूद एक चौथाई हिन्दुस्तानियों का पेट खाली है। ये वे लोग हैं जिनके पास न तो अनाज खरीदने के लिए पैसे हैं और न ही वे सरकार की कल्याण योजनाओं की पहुँच में आ पा रहे हैं। अनाज की महँगी कीमतों से स्थिति और खराब हो गई है। जैसे-जैसे करोड़ों लोग पारिस्थतिकीय तन्त्र और छोटी खेती पर आधारित आजीविका के विकल्पों से वंचित होते जा रहे हैं वैसे-वैसे वे बाजार-अर्थव्यवस्था की चपेट में आते जा रहे हैं जहाँ भोजन केवल पैसे से खरीदा जा सकता है जोकि उनके लिए एक दुर्लभ संसाधन है। परम्परागत अनाज और दलहन अथवा जंगलों व आर्द्र भूमियों में पैदा होनेवाले जंगली और अर्धजंगली भोजन जैसे पोषण के महत्त्वपूर्ण

स्रोत कम होते जा रहे हैं और इन खाद्य पदार्थों को खरीदना भी मुश्किल होता जा रहा है। (नब्बे के दशक की शुरुआत से अब तक प्रति व्यक्ति दलहन की उपलब्धता में 26 प्रतिशत गिरावट आ चुकी है।)

जल की असुरक्षा भी उतना ही गम्भीर रूप ले चुकी है। ग्रामीण और शहरी, दोनों इलाकों के लाखों लोगों के पास पीने के लिए भी पानी नहीं है। आर्द्र भूमियों तथा भूमिगत जलधाराओं का कुप्रबंधन, वर्षा जल का संचय करनेवाले इलाकों का क्षरण, बार-बार आनेवाले सूखे, आबादी का अतिसंकेंद्रण (शहरों में) सतही और भूमिगत जल स्रोतों का प्रदूषण, आदि इसके मुख्य कारण हैं। इन समस्याओं की जड़ में नीतियों की विफलता सबसे प्रमुख है। (आर्द्र भूमि एवं भूमिगत जल संरक्षण एवं प्रबंधन, प्रदूषण तथा पानी के मूल्य से सम्बन्धित नीतियाँ) इसके अलावा जल संसाधनों पर महाकाय कॉरपोरेशनों और अभिजात तबके का कब्जा भी एक मुख्य कारण है। (उदाहरण के लिए देश के बहुत सारे भागों में *कोका कोला* के बॉटलिंग संयंत्रों ने स्थानीय समुदायों को सुरक्षित भूमिगत पानी से भी वंचित कर दिया है)

भूमिगत पानी एक सबसे गम्भीर चिन्ता का विषय बन गया है। खेती, उद्योगों एवं शहरी जरूरतों के लिए पानी का दोहन देश के कई भागों में इस स्तर पर पहुँच चुका है कि भूमिगत जलधाराएँ बहुत तेजी से सूखती जा रही हैं। ग्रामीण भारत में आधी से ज्यादा भूमिगत जलराशियों की भरपाई उतनी तेजी से नहीं हो पा रही है जितनी तेजी से उनका दोहन हो रहा है। संसद में एक सवाल के जवाब में सरकार ने भी कहा है कि देश के एक तिहाई जिलों में भूमिगत पानी पीने के लायक नहीं है क्योंकि उसमें लोहे, फ्लोराइड, आरसेनिक और खारेपन की मात्रा बहुत ज्यादा है। भारत में पानी का कुल इस्तेमाल (लगभग 750 अरब घन मीटर) अभी भी उपलब्ध जल भंडारों से (लगभग 1969 अरब घन मीटर) कम है मगर अनुमान लगाया जा रहा है कि 2025 तक हमारे जल भंडार और हमारा इस्तेमाल, दोनों बराबर हो जाएँगे और 2050 तक पानी का उपयोग उपलब्ध पानी की मात्रा से ऊपर जा चुका होगा। यह स्थिति तो तब है जब हम पानी के केवल मानवीय प्रयोग की बात करते हैं। अगर हम प्राकृतिक पारिस्थितिकीय तन्त्र तथा दूसरी प्रजातियों के लिए पानी की जरूरतों का भी हिसाब जोड़ दें तब तो हम पहले ही संकट में पहुँच चुके हैं।

और आखिर में रोजगारों का संकट तो सबके सामने है ही। जैसे-जैसे पारिस्थितिकीय तन्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे हैं और जमीन/पानी का नाश बढ़ रहा है या प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच घट रही है, ऐसे समुदाय संकट में फँसते जा रहे हैं जो परम्परागत रूप से स्वरोजगार में रहे हैं। (मसलन किसान, शिकारी-संग्राहक, मछुवारे, चरवाहे, दस्तकार, आदि) अभी तक विकास की इस प्रक्रिया में कितनी आजीविका और रोजगार नष्ट हो चुके हैं, इसका हमारे पास कोई मुकम्मल हिसाब नहीं है जो अपने आप में इस बात का संकेत है कि सरकार इस सवाल को कितना अनावश्यक मानती है।

घुमंतू समुदायों पर सबसे बुरा असर पड़ा है। उनकी मौसमी आवाजाही के रास्ते अस्त-व्यस्त हो गए हैं, उनकी जीवन शैली और संस्कृतियाँ हाशिए पर चली गई हैं। उनके बारे में या तो गलतफहमियाँ व्याप्त हैं या उनकी अपनी नई पीढ़ियाँ भी तमाम प्रभावों की वजह से अपने समुदायों से दूर जाने की कोशिश कर रही हैं। *ऐन्थ्रोपॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया* का अनुमान है कि भारत में कम से कम 276 गैर-चरवाही घुमंतू व्यवसाय (शिकारी- संग्राहक और बहेलिए, मछुवारे, दस्तकार, खेल-तमाशे वाले, कथावाचक, ओझा, आध्यात्मिक और धार्मिक प्रस्तोता अथवा प्रैक्टीशनर, सौदागर, वगैरह) हैं। इनमें से ज्यादातर व्यवसाय खतरे में पड़ चुके हैं। कुछ खत्म हो चुके हैं या लगभग खत्म होनेवाले हैं। इन आजीविकाओं से जो लोग बेदखल हुए हैं उनको या तो असुरक्षित, सम्मानरहित, अल्पवेतन वाले और शोषण भरे असंगठित क्षेत्र रोजगारों में धकेल दिया गया है या वे बेरोजगार और बेसहारा छूट गए हैं। यही स्थिति देश के चार करोड़ से ज्यादा घुमंतू चरवाहों में से बहुतों की दिखाई दे रही है।

क्या राष्ट्रीय नियोजन में पर्यावरण को शामिल किया गया है?

जैसा कि इस अध्याय की शुरुआत में जिक्र किया गया था, 1991 में वैश्वीकरण केन्द्रित सुधारों की शुरुआत में तत्कालीन वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने कहा था कि भारत को पर्यावरण की रक्षा के लिए जरूरी संसाधन जुटाने के वास्ते अपनी आर्थिक विकास दर बढ़ानी होगी। जो कुछ नष्ट हो चुका है, उसे वापस नहीं लाया जा सकता है (उदाहरण के लिए ऐसे लाखों हेक्टेयर प्राकृतिक वन जो बाँधों या खदानों की वजह से नष्ट हो चुके हैं या जिनकी उद्योगों का पेट भरने के लिए कटाई की जा चुकी है), यह मान लें तो भी मनमोहन सिंह के बयान की रोशनी में एक सवाल तो बनता ही है : क्या वैश्विक 'विकास' की

स्रोत कम होते जा रहे हैं और इन खाद्य पदार्थों को खरीदना भी मुश्किल होता जा रहा है। (नब्बे के दशक की शुरुआत से अब तक प्रति व्यक्ति दलहन की उपलब्धता में 26 प्रतिशत गिरावट आ चुकी है।)

जल की असुरक्षा भी उतना ही गम्भीर रूप ले चुकी है। ग्रामीण और शहरी, दोनों इलाकों के लाखों लोगों के पास पीने के लिए भी पानी नहीं है। आर्द्र भूमियों तथा भूमिगत जलधाराओं का कुप्रबंधन, वर्षा जल का संचय करनेवाले इलाकों का क्षरण, बार-बार आनेवाले सूखे, आबादी का अतिसंकेंद्रण (शहरों में) सतही और भूमिगत जल स्रोतों का प्रदूषण, आदि इसके मुख्य कारण हैं। इन समस्याओं की जड़ में नीतियों की विफलता सबसे प्रमुख है। (आर्द्र भूमि एवं भूमिगत जल संरक्षण एवं प्रबंधन, प्रदूषण तथा पानी के मूल्य से सम्बन्धित नीतियाँ) इसके अलावा जल संसाधनों पर महाकाय कॉरपोरेशनों और अभिजात तबके का कब्जा भी एक मुख्य कारण है। (उदाहरण के लिए देश के बहुत सारे भागों में *कोका कोला* के बॉटलिंग संयंत्रों ने स्थानीय समुदायों को सुरक्षित भूमिगत पानी से भी वंचित कर दिया है)

भूमिगत पानी एक सबसे गम्भीर चिन्ता का विषय बन गया हैं। खेती, उद्योगों एवं शहरी जरूरतों के लिए पानी का दोहन देश के कई भागों में इस स्तर पर पहुँच चुका है कि भूमिगत जलधाराएँ बहुत तेजी से सूखती जा रही हैं। ग्रामीण भारत में आधी से ज्यादा भूमिगत जलराशियों की भरपाई उतनी तेजी से नहीं हो पा रही है जितनी तेजी से उनका दोहन हो रहा है। संसद में एक सवाल के जवाब में सरकार ने भी कहा है कि देश के एक तिहाई जिलों में भूमिगत पानी पीने के लायक नहीं है क्योंकि उसमें लोहे, फ्लोराइड, आरसेनिक और खारेपन की मात्रा बहुत ज्यादा है। भारत में पानी का कुल इस्तेमाल (लगभग 750 अरब घन मीटर) अभी भी उपलब्ध जल भंडारों से (लगभग 1969 अरब घन मीटर) कम है मगर अनुमान लगाया जा रहा है कि 2025 तक हमारे जल भंडार और हमारा इस्तेमाल, दोनों बराबर हो जाएँगे और 2050 तक पानी का उपयोग उपलब्ध पानी की मात्रा से ऊपर जा चुका होगा। यह स्थिति तो तब है जब हम पानी के केवल मानवीय प्रयोग की बात करते हैं। अगर हम प्राकृतिक पारिस्थितिकीय तन्त्र तथा दूसरी प्रजातियों के लिए पानी की जरूरतों का भी हिसाब जोड़ दें तब तो हम पहले ही संकट में पहुँच चुके हैं।

और आखिर में रोजगारों का संकट तो सबके सामने है ही। जैसे-जैसे पारिस्थितिकीय तन्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे हैं और जमीन/पानी का नाश बढ़ रहा है या प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच घट रही है, ऐसे समुदाय संकट में फँसते जा रहे हैं जो परम्परागत रूप से स्वरोजगार में रहे हैं। (मसलन किसान, शिकारी-संग्राहक, मछुवारे, चरवाहे, दस्तकार, आदि) अभी तक विकास की इस प्रक्रिया में कितनी आजीविका और रोजगार नष्ट हो चुके हैं, इसका हमारे पास कोई मुकम्मल हिसाब नहीं है जो अपने आप में इस बात का संकेत है कि सरकार इस सवाल को कितना अनावश्यक मानती है।

घुमंतू समुदायों पर सबसे बुरा असर पड़ा है। उनकी मौसमी आवाजाही के रास्ते अस्त-व्यस्त हो गए हैं, उनकी जीवन शैली और संस्कृतियाँ हाशिए पर चली गई हैं। उनके बारे में या तो गलतफहमियाँ व्याप्त हैं या उनकी अपनी नई पीढ़ियाँ भी तमाम प्रभावों की वजह से अपने समुदायों से दूर जाने की कोशिश कर रही हैं। *ऐन्थ्रोपॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया* का अनुमान है कि भारत में कम से कम 276 गैर-चरवाही घुमंतू व्यवसाय (शिकारी- संग्राहक और बहेलिए, मछुवारे, दस्तकार, खेल-तमाशे वाले, कथावाचक, ओझा, आध्यात्मिक और धार्मिक प्रस्तोता अथवा प्रैक्टीशनर, सौदागर, वगैरह) हैं। इनमें से ज्यादातर व्यवसाय खतरे में पड़ चुके हैं। कुछ खत्म हो चुके हैं या लगभग खत्म होनेवाले हैं। इन आजीविकाओं से जो लोग बेदखल हुए हैं उनको या तो असुरक्षित, सम्मानरहित, अल्पवेतन वाले और शोषण भरे असंगठित क्षेत्र रोजगारों में धकेल दिया गया है या वे बेरोजगार और बेसहारा छूट गए हैं। यही स्थिति देश के चार करोड़ से ज्यादा घुमंतू चरवाहों में से बहुतों की दिखाई दे रही है।

क्या राष्ट्रीय नियोजन में पर्यावरण को शामिल किया गया है?

जैसा कि इस अध्याय की शुरुआत में जिक्र किया गया था, 1991 में वैश्वीकरण केन्द्रित सुधारों की शुरुआत में तत्कालीन वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने कहा था कि भारत को पर्यावरण की रक्षा के लिए जरूरी संसाधन जुटाने के वास्ते अपनी आर्थिक विकास दर बढ़ानी होगी। जो कुछ नष्ट हो चुका है, उसे वापस नहीं लाया जा सकता है (उदाहरण के लिए ऐसे लाखों हेक्टेयर प्राकृतिक वन जो बाँधों या खदानों की वजह से नष्ट हो चुके हैं या जिनकी उद्योगों का पेट भरने के लिए कटाई की जा चुकी है), यह मान लें तो भी मनमोहन सिंह के बयान की रोशनी में एक सवाल तो बनता ही है : क्या वैश्विक 'विकास' की

उनसे तो यही लगता है कि पूरा देश पारिस्थितिकीय अस्थिरता की तरफ बढ़ रहा है। कम से कम आंशिक रूप से इसकी वजह यह है कि आर्थिक वैश्वीकरण की शक्तियों को केवल पर्यावरण के लिए अनुकूल प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल करके या उपयुक्त सूचनाओं का तेजी से प्रसार करके सन्तुलित नहीं किया जा सकता। इन रास्तों पर चलकर ज्यादा से ज्यादा आप आर्थिक वैश्वीकरण के कारण पैदा होनेवाले पारिस्थितिकीय ध्वंस और सामाजिक उथल-पुथल को कुछ समय के लिए टाल सकते हैं और आपको एक बेहतर समाज की कल्पना करने की मोहलत मिल सकती है। मगर यह समाज कैसा होगा? आर्थिक वैश्वीकरण का क्या विकल्प हो सकता है? इन सवालों को नजरअन्दाज करना घातक हो सकता है।